छात्रजीवन की कहानियाँ

सन्तराम बत्स्य

छात्रजीवन की कहानियाँ

सन्तराम वत्स्य

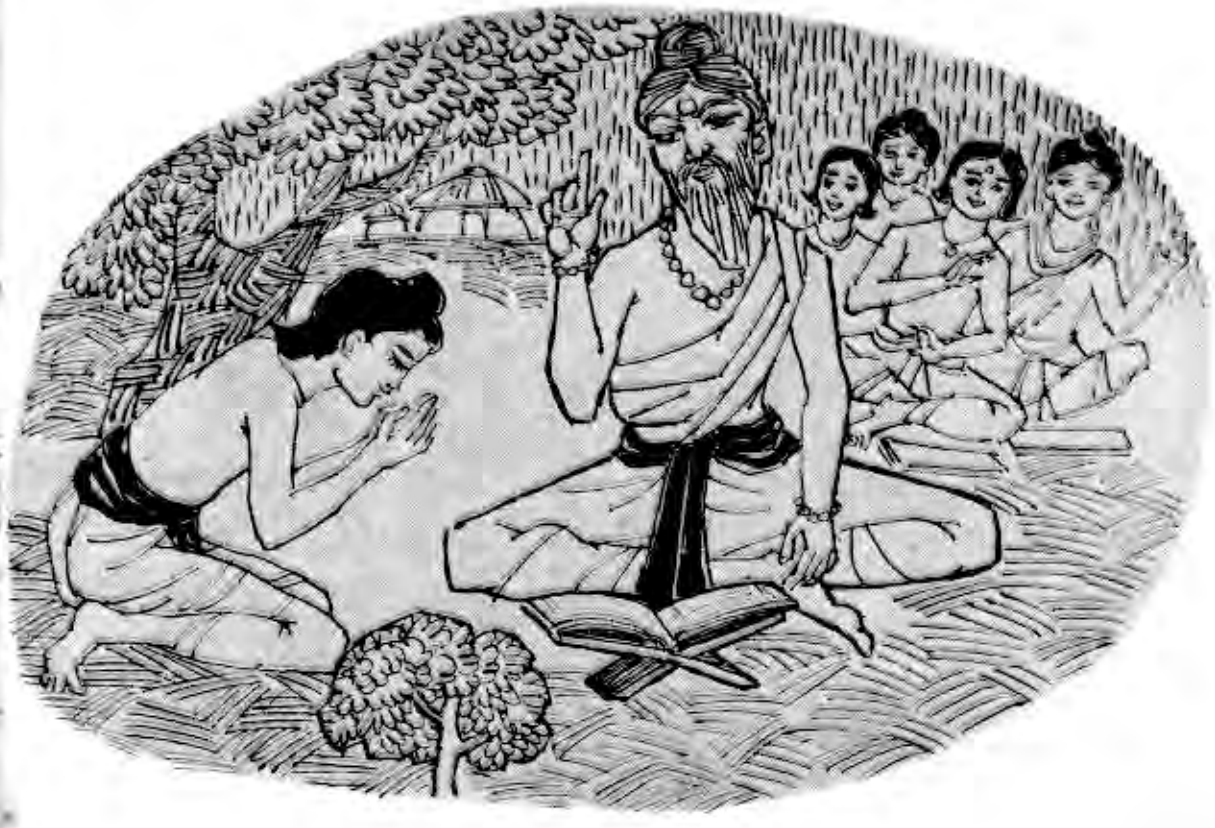

मूल्य :
दो रुपये

प्रथम संस्करण, १९७०

आवरण तथा चित्र :
प्रशान्त सेन

प्रकाशक :
ज्ञान भारती
४/१४, रूपनगर
दिल्ली-७

मुद्रक :
राज कम्पोजिंग एजेन्सी द्वारा
सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस,
दिल्ली-३२

क्रम

उपमन्यु : ५

आरुणि : १२

अभ्यास से मूर्ख भी विद्वान् बन सकता है : १८

दृष्टि सदा लक्ष्य पर रहनी चाहिए : २४

सच्चा बालचर : ३०

विष्णु शर्मा के तीन शिष्य : ३४

उपमन्यु

महर्षि आयोद धौम्य के यों तो कितने ही शिष्य थे, पर उनमें तीन प्रमुख थे—उपमन्यु, आरुणि और वेद। महर्षि आयोद धौम्य की विद्वता का क्या ठिकाना। वेद-विद्या में उन जैसा विद्वान दूसरा कोई ही होगा। पर वे स्वभाव के कुछ रूखे थे। शिष्य मण्डली उन्हें बहुत कठोर स्वभाव का मानती थी। पर वास्तव में यह बात नहीं थी। वे तो नारियल की तरह थे। ऊपर से रूखे और कठोर, किन्तु उनका हृदय बड़ा कोमल था। शिष्यों की हित-चिन्ता उनका स्वभाव बन गया था। वे अपने शिष्यों को पुस्तक-पंडित बना देने में ही सन्तोष नहीं मानते थे, वे तो मनुष्य की परख उसके चरित्र को मानते थे। शिष्य के छोटे-से-छोटे दोष-दुर्गुण को भी वे दूर करके छोड़ते थे, फिर इस कार्य में चाहे कितना ही समय क्यों न लग जाए। जैसे सोने की परीक्षा आग में तपाने से होती है, वैसे ही वे भी शिष्यों के चरित्र-बल को जांचने-परखने के लिए उन्हें खूब कष्ट देते थे। वे शिष्यों को कभी-कभी कहते थे, "आज तुम मेरे बारे

में चाहे जो कुछ भी सोचो, पर एक दिन आएगा जब तुम अनुभव करोगे और कहोगे कि शिक्षा-काल में झेले हुए कष्ट, जीवन भर सुख और सफलता का कारण बने हैं।" वे प्रायः कहा करते थे, "विद्या तो कष्ट से आती है। परिश्रम करना पड़ता है। दिन-रात एक करना पड़ता है। जो चाहो कि परिश्रम भी न करो और विद्वान् भी बन जाओ तो यह असंभव है। आज जो तुम्हें मेरी बातें विष जैसी लगती हैं, इन्हीं का परिणाम तुम्हें अमृत तुल्य लगेगा। बेटा, यह गुरु तो खट्टे और कसैले आमले की तरह है। इसका मीठापन कुछ समय बाद ही प्रकट होता है।"

कभी कुम्हार को घड़ा बनाते देखा है? वह भीतर की ओर तो हाथ का सहारा दिये रहता है और बाहर की ओर से थपकनी से ठोक-पीटकर पक्का करता है और मनचाहा आकार देता है। बस, वैसे ही थे गुरु आयोद धौम्य। उनका सारा समय शिष्यों को चरित्रवान् बनाने में लगता था।

नियमों का पालन करवाने में वे बड़े कठोर थे। बड़े तड़के शिष्यों को उठा देते। शौच-स्नानादि के बाद सन्ध्या-अग्निहोत्र होता। फिर वेद-पाठ। आश्रम की सफाई-लिपाई भी शिष्यों को करनी पड़ती। गायों को चराना, गोबर उठाना, घास और लकड़ियां लाना—सभी काम शिष्य करते। आश्रम के पौधों को सींचना, मेंड़ बनाना, आश्रम की कुटियाओं को छाना और प्रतिदिन भिक्षा माँगकर लाना—यह भी शिष्यों का काम था। चटाई बनाना, गायों को बांधने के लिए रस्सी बटना, छोटे बछड़ों की देखभाल करना—बीसियों काम उन्हें करने पड़ते और इसके साथ प्रतिदिन का पाठ भी याद करना होता। किसी काम में कोई शिष्य देर लगाता तो वे डाँट-डपट करते। उनका शिष्य बनना सूई की नोक में से निकलने जैसा कठिन था।

उपमन्यु वर्षों से उनके पास था। उसके और तो सारे दोष-दुर्गुण दूर हो गए थे पर पेटूपन अभी बाकी था। वह अकेला दो के बराबर भोजन करता था। उसे सबसे पहले भूख लग पड़ती। वह एक दिन भी उपवास नहीं रख सकता

था। महर्षि आयोद धौम्य ने उसके इस दुर्गुण को दूर करने का निश्चय किया।

उन्होंने उपमन्यु को बुलाकर कहा, "बेटा उपमन्यु! आज से गायों को चराने का काम तुम्हारे जिम्मे।"

उपमन्यु गुरुजी की आज्ञा के अनुसार प्रातः ही गायों को चराने ले जाता और शाम को लौटता।

इसी तरह उसे गाएं चराते कई दिन हो गए। एक दिन गुरुजी ने देखा कि यह तो खूब तगड़ा हो गया है। उन्होंने पूछा, 'बेटा उपमन्यु! तुम आजकल

कहां से और क्या खाते हो जो मोटे-तगड़े हो रहे हो ?"

उपमन्यु ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "गुरुदेव ! मैं भिक्षा का अन्न खाता हूँ।"

गुरुजी बोले, "बेटा ! तुम आश्रम के नियम का उल्लंघन करते हो। शिष्य जो भी भिक्षा मांगकर लाते हैं उसे गुरु को दे देते हैं। अपने आप नहीं खा लेते। आज के बाद इस नियम को कभी मत तोड़ना। समझे !"

"जैसी आपकी आज्ञा।" उपमन्यु ने कहा। और उस दिन से वह जो भिक्षा मांगकर लाता उसे गुरुदेव को समर्पित कर देता। गुरुदेव सारी की सारी भिक्षा रख लेते और उसे कुछ भी न देते। इसी तरह कई दिन बीत गए।

गुरुजी ने देखा कि यह तो अब भी वैसे का वैसा मोटा-तगड़ा है। कहने लगे, "बेटा उपमन्यु ! तुम जो भिक्षा लाते हो उस सबको मैं रख लेता हूं। फिर तुम अपना गुज़ारा कैसे करते हो ?"

"एक बार आपके लिए भिक्षा मांगता हूं और दूसरी बार अपने लिए। बस, उसी से गुज़र करता हूँ।" उपमन्यु ने उत्तर दिया।

"यह तो बड़ी अनुचित बात है। इस तरह एक ही दिन में दो बार भिक्षा मांगकर तुम दूसरे भिक्षा मांगने वालों के लिए कठिनाई पैदा कर रहे हो। गृहस्थ क्या कहते होंगे कि कैसा लालची ब्रह्मचारी है। कल से दोबारा भिक्षा मांगने मत जाना !" गुरुजी ने ताड़ते हुए कहा।

उपमन्यु लज्जा से सिर नीचा किये सुनता रहा। फिर बोला, "जो आज्ञा।" वह फिर पहले ही की तरह प्रतिदिन गाएं चराता रहा।

कुछ दिनों बाद जब वह सायंकाल को गुरुजी को प्रणाम करने आया तो उन्होंने उसे ध्यान से देखा। वह पहले जैसा ही हृष्ट-पुष्ट था। उन्होंने पूछा, "बेटा उपमन्यु ! तुम्हारी सारी भिक्षा तो मैं ले लेता हूं। अब तुम दोबारा भिक्षा भी नहीं माँगते। फिर भी मैं देख रहा हूं कि तुम पहले जैसे ही हट्टे-कट्टे हो। आजकल क्या खाते-पीते हो ?"

उपमन्यु ने उत्तर दिया, "मैं आजकल गायों का दूध पीकर अपना पेट भर लेता हूं।"

"मैंने तुम्हें दूध पीने की आज्ञा कब दी ? तुम्हें बिना आज्ञा के तो दूध नहीं पीना चाहिए। तुम्हारा यह कार्य अनुचित है। कल से तुम ऐसा नहीं करोगे।" गुरुजी ने समझाया।

"मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।" उपमन्यु ने कहा। चार-छः दिनों के बाद जब वह फिर सायं गुरुजी को प्रणाम करने गया तो उन्होंने फिर उसे ध्यान से देखा। वह पहले ही की तरह हट्टा-कट्टा था।

गुरुजी ने उससे पूछा, "तुम जो भिक्षा मांगकर लाते हो वह मुझे दे देते हो। दोबारा भिक्षा मांगते नहीं। गायों का दूध भी नहीं पीते। फिर भी मैं देख रहा हूं कि तुम पहले की ही तरह हट्टे-कट्टे हो। अब तुम क्या खाते हो ?"

उपमन्यु ने उत्तर दिया, "गुरुदेव ! बछड़े दूध पीते समय जो झाग उगल देते हैं, उसी को पीकर मैं अपना पेट भर लेता हूँ।"

"तो यह बात है। बछड़े बड़े भले हैं। तुम्हारे साथ हिल-मिल भी गए हैं। मैं समझता हूँ कि वे तुम पर दया करके कुछ ज्यादा ही झाग उगल देते हैं और स्वयं भूखे रह जाते हैं। बछड़े तुम्हारे लिए भूखे रहें, यह तो ठीक बात नहीं है। कल से झाग मत पीना। समझे ?"

"बहुत अच्छा।" उपमन्यु ने कहा। वह अब भिक्षा का अन्न नहीं खाता। दोबारा भिक्षा मांगने भी नहीं जाता। गायों का दूध भी नहीं पीता। बछड़ों का उगला हुआ झाग पीना भी उसने बन्द कर दिया। अब वह भूखा रहने लगा। पर भूखा कब तक रहता ?

एक दिन जब वह भूख से बेचैन हो उठा तो उसने जंगल में आक के पत्ते ही तोड़कर खा लिए।

आक तो एक प्रकार का जहर ही होता है। उसके पत्ते कड़वे, तीखे-चरपरे और रूखे होते हैं। उन्हें खाने से उसके पेट में जलन होने लगी। उसे मितली-

सी आने को हुई। मुंह में छाले पड़ गए। पेट में ऐंठन होने लगी। आक के जहर के प्रभाव से वह अन्धा हो गया। उसे कुछ भी दिखाई नहीं देता था। वह गायों को हांकने की लाठी के सहारे ही इधर-उधर घूमने लगा। घूमता-फिरता वह एक कुएँ-जैसे सूखे-गहरे गड्ढे में जा गिरा। इस घने जंगल में वह क्या करे? किसको पुकारे? कोई सुनने वाला नहीं, सहायता करने वाला नहीं। उसे पड़े-पड़े साँझ हो गई। रात का अंधेरा घिर आया।

आश्रम में जब प्रतिदिन की तरह वह समय पर नहीं पहुँचा तो गुरुजी ने पूछताछ की। इधर-उधर ढूंढा पर वह कहीं दिखाई नहीं दिया।

गुरुजी को चिन्ता हुई। उन्होंने सोचा, 'मैंने उसके खाने-पीने के सारे रास्ते बन्द कर दिये हैं। इसी से कहीं रूठ न गया हो; नहीं तो अब तक तो अवश्य आ जाता।' उन्होंने उसे जंगल में खोजने का निश्चय किया।

कुछ शिष्यों को साथ लेकर महर्षि आयोद धौम्य उपमन्यु को खोजते जंगल में जा पहुँचे। अंधेरा हो चुका था और कुछ दिखाई नहीं देता था। इसलिए वे ज़ोर-ज़ोर से 'उपमन्यु बेटा! ओ उपमन्यु बेटा!!' की आवाज़ लगाए जा रहे थे।

गुरुजी की स्नेह-भरी आवाज़ जब उपमन्यु को सुनाई दी तो उसने जोर से प्रत्युत्तर दिया, "गुरुजी! मैं कुएँ में गिर पड़ा हूं।"

जहां से आवाज़ आयी थी, आचार्य और शिष्य वहां पहुंचे। गुरुदेव ने उससे पूछा, "बेटा, तुम इस कुएँ में कैसे गिर गए?"

उपमन्यु ने कुएँ से ही उत्तर दिया, "गुरुदेव! मेरा भूख के मारे बुरा हाल था। मैंने आक के पत्ते खा लिए थे। उन्हीं के खाने से मैं अन्धा हो गया हूं।"

आचार्य बोले, "बेटा, तुम देवताओं के वैद्य अश्विनीकुमारों की स्तुति करो। वे ही तुम्हारी आँखों की ज्योति लौटा सकते हैं। उनकी कृपा हुई तो तुम फिर से पहले ही की तरह देखने लगोगे।"

उपमन्यु ने अश्विनीकुमारों की स्तुति-प्रार्थना की। वे प्रसन्न होकर वहाँ आए और उससे बोले, "यह लो एक पूआ, इसे खा लो।"

लेकिन उपमन्यु ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "आपकी बात तो ठीक है पर मैं गुरुजी से आज्ञा लिए बिना इसे नहीं खा सकता।"

"अरे, वाह! इसमें आज्ञा लेने की क्या बात है? बहुत पहले एक बार तुम्हारे गुरुजी ने भी इसी तरह हमारी स्तुति की थी। हम ने उन्हें भी पूआ खाने को दिया था। उन्होंने तो अपने गुरु से कुछ पूछा नहीं था और खा लिया था। जैसा तुम्हारे गुरु ने किया था, तुम भी वैसा ही क्यों नहीं करते?"

उपमन्यु फिर भी नहीं माना, बोला, "कृपा करके मुझे इसके लिए विवश मत कीजिए। मैं आपके आगे हाथ जोड़ता हूं। मैं गुरुजी को बिना बताए इस पूए को नहीं खा सकता।"

उपमन्यु की गुरु-भक्ति से अश्विनीकुमार बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा, "तुम्हारी आँखें ठीक हो जाएंगी, और तुम्हारे दांत तुम्हारे गुरुजी के दांतों से भी बढ़कर दृढ़ और चमकदार होंगे। तुम कल्याण के भागी बनोगे।"

उपमन्यु की आँखों में ज्योति लौट आई। फिर वह गुरुजी के पास पहुंचा और उनके पाँव छूकर प्रणाम किया। अश्विनीकुमारों की कही हुई बातें बताईं। गुरुजी सारी बात सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। फिर बोले, "तुम्हारा कल्याण हो। तुम सुखी रहो। श्रुति, वेद और स्मृति—धर्मशास्त्र के तुम पंडित बनोगे। तुम्हारी विद्या सफल होगी।"

आरुणि

दिन का तीसरा पहर है। तपोवन में महर्षि आयोद धौम्य के आश्रम में आज सभी शिष्य काम में लगे हुए हैं। आकाश में काले-काले बादल छाए हुए हैं। बिजली चमक-कड़क रही है। लगता है कि अभी आकाश फट पड़ेगा। जो शिष्य गाएं चराने ले गए थे, वे उन्हें लौटा लाए हैं और गोशाला में बांध रहे हैं। कुछ शिष्य बाहर पड़ी सूखी लकड़ियों को कुटिया के भीतर रखने ले जा रहे हैं। कुछ गायों के लिए रखी घास संभाल रहे हैं। कुछ सूखे उपलों को समेट रहे हैं। कुछ सूखने के लिए फैलाये वस्त्रों को इकट्ठा कर रहे हैं। कुछ यज्ञशाला में अग्निहोत्र के लिए समिधाओं को रख रहे हैं। कुछ हरिणों के लिए रखे धान्यों को सुरक्षित स्थान पर रखने में व्यस्त हैं।

कुलपति महर्षि आयोद धौम्य शिष्यों को काम बताते जा रहे हैं। हवा के तेज़ झोंकों से उनकी लम्बी सफेद दाढ़ी उड़-उड़ जाती है। कन्धे पर रखा भगवा उत्तरीय वस्त्र उन्हें बार-बार संभालना पड़ता है।

शिष्यों ने बात की बात में सारा काम समेट लिया। वर्षा प्रारंभ हो गई। मूसलाधार वर्षा होने लगी। आँधी के कारण वर्षा की तेज बौछारें कुटियाओं के भीतर पहुंचने लगीं। शिष्यों ने झट द्वार बन्द कर दिए। कुछ देर बाद आंधी तो थम गई पर वर्षा नहीं थमी। आंगन पानी से भर गया और नालियां भरकर कूल-किनारों से बाहर बहने लगीं।

महर्षि को ध्यान हो आया कि आश्रम से बाहर जो खेत है यदि उसकी मेंड़ टूट गई तो सारा खेत बह जाएगा। उन्होंने आरुणि को पुकारा। वह अपनी कुटिया से निकलकर गुरुजी के पास आ खड़ा हुआ। दस कदम का आंगन पार करते-करते ही वह भीग गया था।

गुरुजी ने कहा, "बेटा आरुणि! तुम खेत पर जाओ और देखो कि कहीं उस की मेंड़ तो नहीं टूट गई है। टूटी हो तो ठीक कर देना। यह छत्रक लेते जाओ।"

बांस के सीखचों के ठाट पर चौड़े पत्तों से छाकर बनाया हुआ छत्रक आरुणि ने सिर पर रखा और खेत की ओर चल दिया। रास्ते में कहीं-कहीं घुटनों-घुटनों पानी भरा था। आरुणि पानी भरे रास्ते में लगभग दौड़ता चला जा रहा था। पानी पर उसके पैर पड़ने से छपाक-छपाक की आवाज होती। चारों ओर छींटे पड़ते। आरुणि के ऊपर भी। छपाक-छपाक की आवाज उसे बड़ी भली लगती और वह अपने पैर जान-बूझकर इस तरह रखता जिससे खूब आवाज हो और खूब छींटे उठें।

वह खेत पर जा पहुंचा। वर्षा अब भी मूसलाधार हो रही थी। आरुणि ने आकाश की ओर देखा। उसे लगा कि यह गहरी घटा तो रात भर बरसती रहेगी। वह खेत के चारों ओर मेंड़ पर चलता हुआ देखता जाता था कि कहीं से टूटी हुई तो नहीं है। उसने एक जगह टूटी हुई मेंड़ देखी। कटाव में से पानी बड़ी तेजी से बह रहा था और अपने साथ खेत की खाद-मिट्टी को भी बहाए लिए जाता था। कटाव के पास खेत की बहुत-सी मिट्टी बह गई थी और शेष कट-कटकर बहती जा रही थी।

आरुणि मिट्टी के लोंदे रख-रखकर मेंड़ को भरने लगा। पर वह जितनी भी मिट्टी रखता पानी उसे बहाकर ले जाता। कितनी ही देर यह क्रम चलता रहा। अन्त में आरुणि को ही हार माननी पड़ी। उसने समझ लिया कि यह मिट्टी कोई काम न देगी। वह एक पत्थर उठा लाया और बीच में रख दिया। अब पत्थर के दोनों ओर से पानी निकलने लगा। मेंड़ के दोनों किनारों पर पानी का ज़ोर बढ़ गया और मेंड़ कटने लगी। पत्थर के नीचे की मिट्टी भी बह चली और पानी के ज़ोर से पत्थर लुढ़क गया। उसका यह प्रयत्न भी बेकार गया।

पानी कुछ और तेज़ हो गया। उसकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था कि क्या करे। वह क्षण भर खड़ा सोचता रहा। फिर पास के वृक्षों की टहनियां तोड़ लाया और उन्हें कटाव की पूरी लम्बाई में अड़ा दिया। उसे लगा कि अब पानी रुक जाएगा पर इससे भी कुछ लाभ नहीं हुआ। टहनियों के बीचों-बीच से पानी और मिट्टी बहती रही और फिर टहनियां भी बह गईं। बेचारा खाली हाथ आरुणि क्या करता। उसके पास कोई औज़ार भी तो नहीं था। वह सोचने लगा, यह छोटा-सा काम भी मैं न कर सका तो गुरुजी को क्या मुँह दिखाऊँगा। यह छोटा-सा काम ही आज कितना बड़ा हो गया था। उसने फिर आकाश की ओर देखा। वर्षा थमने का कोई लक्षण उसे दिखाई नहीं दिया। वह सोच रहा था, वर्षा कुछ थम जाए तो पानी का ज़ोर कम हो जाएगा और तब मेंड़ को वह ठीक कर देगा। कितनी देर से वह मेंड़ को ठीक करने में लगा हुआ था पर सब परिश्रम बेकार गया था। उसने सोचा, वह वापस आश्रम चला जाए और गुरुजी को बता दे कि मेंड़ टूट गई है और ठीक नहीं हो पा रही है। पर इस तरह हार मानना उसे स्वीकार नहीं था।

आरुणि वर्षा में भीग गया था। घुटनों तक टाँगें और कोहनियों तक बाँहें मिट्टी में सनी हुई थीं। भीगने से उसे ठंड भी लगने लगी थी। वह क्षण भर

के लिए सोच में डूब गया। तभी उसे एक अचूक उपाय सूझ गया।

वह स्वयं उस जगह लेट गया, जहां से मेंड़ टूटी हुई थी। इस तरह उसने अपने हाड़-मांस की रुकावट से उस जगह को पूर दिया। अब तो पानी को हार माननी पड़ी। आरुणि इस लड़ाई में जीत गया। गुरुजी के खेत की खाद-मिट्टी बहने-टूटने से रुक गई।

वह थोड़ी-थोड़ी देर बाद सिर उठाकर आकाश की ओर देख लेता कि वर्षा थम रही है या नहीं। पर वर्षा कहती थी कि मैं तो आज ही बरसूंगी। जी भर कर बरसूंगी।

आरुणि वर्षा थमने की प्रतीक्षा करता हुआ पड़ा रहा। काली घटाओं के घिरने से वैसे ही अंधेरा-सा हो रहा था। अब दिन अस्त होने को आया था। अंधेरा और बढ़ता जा रहा था। पानी ज्यों का त्यों बरसता जा रहा था। आरुणि ज्यों का त्यों लेटा हुआ था।

आश्रम में सायंकाल को सभी शिष्य संध्या-वन्दन और अग्निहोत्र के लिए यज्ञशाला में आ जुटे। पवित्र यज्ञाग्नि प्रदीप्त हो उठी और वेद-मंत्रों के स्वर-सहित पाठ ने वर्षा के रिम-झिम स्वर से मिलकर एक नया ही समाँ बाँध दिया।

अग्निहोत्र समाप्त हुआ। शिष्य जब जाने लगे तो महर्षि आयोद धौम्य ने सब पर दृष्टि डाली। उनकी दृष्टि कुछ खोज रही थी। उन्हें उन शिष्यों में आरुणि कहीं दिखाई नहीं दिया। उन्होंने शिष्यों से पूछताछ की। तभी एक शिष्य ने बताया कि आप ही ने तो उसे खेत पर भेजा था। वह अभी वहां से नहीं लौटा है।

महर्षि उसके अब तक न लौटने से चिन्तित हो उठे। उन्होंने तुरंत खेत पर जाकर देखने का निश्चय किया। दो-तीन शिष्य भी उनके साथ हो लिए। वहां जाकर गुरुजी उसे जोर-ज़ोर से पुकारने लगे। अंधेरा हो जाने के कारण कुछ

भी दिखाई नहीं देता था। यहाँ कहीं होगा तो पुकार का उत्तर अवश्य देगा, यही सोचकर वे पुकारते रहे, "बेटा आरुणि ! आरुणि बेटा !! तुम कहां हो ? जहां भी हो मेरे पास चले आओ !"

आरुणि गुरुजी को अपना नाम पुकारता सुनकर उठ खड़ा हुआ। कीचड़ की मोटी तह उसके सारे शरीर पर जमी हुई थी। उसने जोर से कहा, "गुरुजी, मैं यहां हूं।" और गुरुजी के पास जा पहुंचा।

गुरुजी ने पूछा, "तुम अभी तक यहां क्या कर रहे हो, बेटा ?"

वह विनयपूर्वक बोला, "मेंड़ टूट गई थी और जब मैं उसे किसी तरह भी ठीक नहीं कर सका तो स्वयं वहां आड़ा लेट गया। अभी आपकी आवाज़ सुनकर उठा हूं। आज्ञा दीजिए, मैं इस समय आपका कौन-सा काम करूं ?"

महर्षि आयोद धौम्य कुछ आरुणि से सुनकर और कुछ आरुणि को देखकर समझ गए कि इसने कैसी दृढ़ श्रद्धा-भक्ति से खेत की रक्षा की है।

"प्रिय आरुणि ! तुम्हारे इस आज्ञापालन की कहानी को चिरस्थायी बनाने के लिए, तुम्हारे नाम से पहले 'उद्दालक' विशेषण लगाता हूं। उद्दालक इसलिए कि तुम मेंड़ का उद्दलन करके उठे हो।"

वे फिर बोले, "तुमने मेरी आज्ञा का पालन करने में अपने प्राणों की भी परवाह नहीं की। इसलिए मैं तुम पर प्रसन्न हूं और तुम्हें आशीर्वाद देता हूं कि तुम्हारा जीवन सुखी और सफल हो। सारे वेदों और धर्मशास्त्रों का ज्ञान तुम्हें सहज ही हो जाए।"

महर्षि की प्रसन्नता और आशीर्वाद पाकर आरुणि बहुत प्रसन्न हुआ। फिर वह उनके साथ ही आश्रम को लौट गया।

जब उसके सहपाठियों ने सारी बात सुनी तो वे सभी उसकी बड़ाई करने लगे।

अभ्यास से मूर्ख भी विद्वान् बन सकता है

वरदराज नाम का एक बालक था। जब वह पाँच वर्ष का हो गया तो पिता ने उसे पढ़ने के लिए गुरुजी के पास भेज दिया। उन गुरुजी के पास और भी कितने ही बालक पढ़ते थे। वरदराज भी पढ़ने लगा। उन दिनों गुरुओं की सेवा में रहकर ही विद्या सीखने का रिवाज था। आजकल की तरह पाठशालाएँ नहीं थीं।

वरदराज एकदम बुद्धू था। उसे कुछ भी याद नहीं रहता था। वह पढ़ने-लिखने में एकदम सुस्त था। उसके सहपाठी आगे बढ़ते गए और वह एक साल की पढ़ाई में तीन-तीन साल लगाता रहा। गुरुजी उसे अलग से पढ़ाते-समझाते पर सब बेकार। उसकी समझ में कुछ नहीं आता था। वह खाता खूब था और सोता भी सबसे अधिक था। जब तक उसे कोई जगाता नहीं था, वह नहीं जागता था।

गुरुजी ने उसे बुद्धि बढ़ाने की दवाई खाने को दी, पर उससे भी कुछ लाभ नहीं हुआ। वे कभी उसे प्यार से समझाते, कभी झिड़क देते और कभी दण्ड भी देते पर उस पर किसी भी बात का कोई असर नहीं होता था।

सहपाठी उसको छेड़ते। उसका मज़ाक उड़ाते। कोई बुद्धू कहता, तो कोई मूर्खराज। कोई कहता कि इसका दिमाग पोला है। कोई कहता कि इसके दिमाग में भूसा भरा हुआ है। एक लड़के ने उसका नाम बिगाड़कर, वरदराज की जगह उसे बरधराज कहना शुरू कर दिया। बरधराज का अर्थ है, 'बैलों का राजा'। बुद्धू की तुलना बैल से अब भी की जाती है। 'बछिया का ताऊ' मुहावरा मूर्ख आदमी के लिए ही प्रयोग किया जाता है जिसका अर्थ 'बैल' है।

वरदराज को पढ़ते पाँच साल हो गए थे पर वह अभी कुछ सीख-पढ़ नहीं सका था। उसके साथ जो पढ़ने आए थे वे तो आगे बढ़ ही गए, जो बाद में आए थे, वे भी उसे पीछे छोड़कर आगे निकल गए।

वरदराज वैसे स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट था। देखने में भी अच्छा था। पर जहाँ तक पढ़ाई का सम्बन्ध था, एकदम फिसड्डी था। दूसरे छात्र कहते, "जब ब्रह्मा बुद्धि बांट रहे थे, यह सोया हुआ था। इसलिए इसे बुद्धि नहीं मिली।" इसी तरह की कितनी ही बातें उसे सुनने को मिलती थीं।

एक दिन गुरुजी ने निराश होकर कहा, "बेटा वरदराज ! मैं समझता हूं कि पढ़ना-लिखना तुम्हारे बस का नहीं है। मैंने कितना प्रयत्न किया, तुम्हें कितना समझाया, अलग से भी पढ़ाया पर कुछ लाभ नहीं हुआ। लगता है, तुम्हारे भाग्य में विद्या नहीं है। इससे तो यही अच्छा है कि पढ़ना छोड़ दो। घर जाओ और घर का काम-काज करो।"

वह ब्राह्मण का बालक था और उसके पिता बड़े विद्वान् थे। उन दिनों ब्राह्मणों का काम ही विद्या पढ़ना और पढ़ाना था। पुरोहित का काम करने के लिए भी विद्वान होना आवश्यक था। अनपढ़ों को तब कोई न पूछता था, न पूजता था।

वरदराज की आंखों के आगे अंधेरा छा गया। उसे अपना भविष्य अंधकार-मय दिखाई देने लगा। घर जाकर पिताजी को वह क्या मुंह दिखाएगा। कैसे कहेगा कि गुरुजी ने उसे बुद्धू होने के कारण पढ़ाने से मना कर दिया। लोग क्या

कहेंगे कि पिता तो माना हुआ विद्वान् और बेटा निरक्षर बुद्धू।

ये और इसी तरह की अनेक बातें उसके मन में आईं। उसने अपने सामान की गठरी बांधी, गुरुजी के चरण छुए, साथियों से गले मिला और भारी मन से वहाँ से विदा हुआ। मारे शर्म के वह धरती में गड़ा जा रहा था। उसके पांव मन-मन के भारी हो रहे थे और उठते ही नहीं थे। वह उदास अनमना-सा चल रहा था। यों घर वापस जाने का उसका जरा भी मन नहीं था। पर और कोई ठौर-ठिकाना भी नहीं था। कहां जाए, क्या करे, उसकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था।

वह सवेरे चला था और दोपहर हो गई थी। रास्ते में खाने के लिए थोड़ा-सा सत्तू गुरुजी ने उसे दिया था। उसे भूख भी लग आयी थी और प्यास भी। पर मन कुछ खाने को नहीं था।

रास्ते में एक कुआं दिखाई दिया। वह सुस्ताने के लिए कुएं के पास जा बैठा।

वह खिन्न और उदास तो था ही, अपना जीवन उसे अन्धकारमय और व्यर्थ लग रहा था। उसने सोचा, 'इस जीने से तो मर जाना ही अच्छा।' यही सोचकर वह डूब मरने के लिए कुएं की ओर बढ़ा। उसने चारों ओर देखा कि आस-पास कोई देख तो नहीं रहा है? कोई पानी भरने तो नहीं आ रहा है? फिर उसने झांककर कुएं की गहराई की थाह ली। यह देखते-भालते उसकी नज़र कुएं की जगत पर गई। जगत पर पानी खींचने की रस्सी की रगड़ से जगह-जगह पत्थर घिस गए थे और निशान पड़े हुए थे। चबूतरे पर घड़ों और गागरों को रखने से पत्थर में घड़ों के निचले भागों जैसे गड्ढे बने हुए थे। वरदराज के दिमाग में बिजली-सी कौंध गई। उसने सोचा, 'बार-बार की रगड़ से कोमल रेशे से बनी रस्सी पत्थर को काट सकती है और मिट्टी के घड़े जो ज़रा-सी चोट लगने से टूट जाते हैं, उनसे पक्के पत्थरों पर गड्ढे बन सकते हैं तो क्या लगातार परिश्रम करने से मुझे पढ़ना-लिखना नहीं आ सकता?'

कुछ क्षण पहले के डूब मरने के विचार को उसने छोड़ दिया। वह अपने आप से ही बोल उठा, 'मैं कठिन परिश्रम करूँगा। फिर देखता हूँ मुझे विद्या कैसे नहीं आती है ?' उसके स्वर में आत्मविश्वास की दृढ़ता थी, कुछ कर दिखाने का संकल्प था।

उसने कुएं पर रखे डोल से पानी निकाला। हाथ-मुंह धोए और सत्तू खाकर भरपेट पानी पिया। वह घर जाने की अपेक्षा, फिर पीछे लौट पड़ा। अब की बार उसके कदम पहले की तरह भारी नहीं थे। वह तेज़ी से चल रहा था। उसकी उदासी दूर हो चुकी थी। अब तो वह दूसरी ही तरह का वरदराज लग रहा था।

वह दिन अस्त होने से पहले ही गुरुजी के घर जा पहुँचा। उसने गुरुजी के चरण छूकर प्रणाम किया। उसके साथियों को जब पता लगा कि वह फिर वापस आ गया है तो वे तरह-तरह की बातें बनाने लगे।

गुरुजी उसे देखकर बोले, "बेटा वरदराज ! तुम घर नहीं गए क्या ?"

वह नम्रतापूर्वक बोला, "गया था गुरुजी, पर आधे रास्ते से लौट आया हूँ। अब मेरी आंखें खुल गई हैं। मैंने निश्चय किया है कि मैं पूरी लगन और परिश्रम से विद्याभ्यास करूँगा। आज से आपको कभी कुछ कहने का अवसर नहीं दूंगा।"

गुरुजी का मन पसीज गया। बोले, "ठीक है। कुछ दिन और देख लेता हूँ। तुम जो कुछ कह रहे हो, उसे कर दिखाओगे तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।"

वरदराज की पढ़ाई प्रारंभ हुई। अब तो उसकी भूख और नींद पता नहीं कहां भाग गई। वह रात को देर तक पढ़ता रहता और प्रातः भी सबसे पहले उठ जाता। दिन में भी एक क्षण बेकार नहीं गँवाता था।

फिर क्या था ! जो पाठ याद करना उसे ऊँचे पहाड़ पर चढ़ने की तरह कठिन प्रतीत होता था, वही अब आसान हो गया। उसने अगली-पिछली सारी कसर अपनी मेहनत से पूरी कर दी।

गुरुजी और दूसरे छात्र इस परिवर्तन को देखकर आश्चर्य से चकित रह गए। अब उन्होंने वरदराज का मज़ाक उड़ाना बन्द कर दिया। कुछ ही महीनों बाद तो गुरुजी उसकी प्रशंसा भी करने लगे।

अब वरदराज की गिनती प्रतिभाशाली छात्रों में होने लगी। कल का बुद्धू वरदराज अब बुद्धिमान् बन गया। यह चमत्कार न तो किसी ओषधि से हुआ था और न ही किसी जन्त्र-मन्त्र से। यह लग्न और कठोर परिश्रम का चमत्कार था।

बाद में यही वरदराज प्रसिद्ध विद्वान् बना। देवगिरि के राजा महादेव की सभा में वह महापंडित के पद पर सुशोभित हुआ। संस्कृत में पाणिनि का व्याकरण प्रसिद्ध है। यह कठिन भी है। इसे पढ़ने में विद्यार्थियों को बहुत परिश्रम करना पड़ता था। वरदराज को भी पाणिनि व्याकरण को समझने में बड़ी कठिनाई का अनुभव हुआ था। विद्यार्थियों की इस कठिनाई को दूर करने के लिए पंडित वरदराज ने 'लघु सिद्धान्त कौमुदी' की रचना की। इसमें पाणिनि के व्याकरण का संक्षिप्त सारांश दिया गया है। इन्हीं वरदराज ने 'मुग्धबोध' नामक संस्कृत के सरल व्याकरण की रचना भी की थी। इन्हीं वरदराज का दूसरा नाम बोपदेव भी है।

वरदराज के जीवन की इस घटना से एक लोकोक्ति ही प्रसिद्ध हो गई है। यह लोकोक्ति बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। छात्रों को तो इसे याद ही कर लेना चाहिए। उनके लिए यह पथ-प्रदर्शक सिद्ध हो सकती है :

करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत-जावत ते सिल पर परत निसान॥

दृष्टि सदा लक्ष्य पर रहनी चाहिए

कौरवों और पाण्डवों को अस्त्रों-शस्त्रों की शिक्षा देने के लिए पितामह भीष्म ने आचार्य द्रोण को नियुक्त किया था। उस समय उन-जैसा अस्त्र-शस्त्र-विद्या जानने वाला देश में दूसरा कोई नहीं था।

सौ कौरव, पाँच पाण्डव, कर्ण, आचार्य द्रोण का पुत्र अश्वत्थामा तथा अन्य भी कई राजकुमार आचार्य द्रोण से अस्त्र-शस्त्र-विद्या सीख रहे थे।

एक बड़ा लम्बा-चौड़ा मैदान था। वहीं पर सभी अभ्यास करते। धनुष-बाण, तलवार, गदा, मल्लयुद्ध, सभी कुछ वे सिखाते। हाथी पर बैठकर लड़ाई करना, रथ दौड़ाते हुए, घोड़े की पीठ पर बैठे हुए और पैदल कैसे लड़ना है यह द्रोणाचार्य उन्हें सिखाते।

यद्यपि सभी एक साथ सीखते थे किन्तु अपनी-अपनी रुचि, अभ्यास और शक्ति के कारण कोई कम सीख पाता, कोई अधिक। युधिष्ठिर रथ पर चढ़कर लड़ने में सबसे आगे था। भीम की बराबरी गदा चलाने में कोई नहीं कर सकता

था। अर्जुन के बाण का निशाना अचूक था। नकुल-सहदेव तलवार के ऐसे-ऐसे वार करते कि देखते ही बनता। उधर कौरवों में दुर्योधन की रुचि गदा चलाने में अधिक थी। दुःशासन शत्रु को घेरा डालने में चतुर था। सभी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार किसी न किसी एक काम में सिद्धहस्त थे। वैसे सीखना सबको सब-कुछ पड़ता था।

अर्जुन एक दिन भोजन कर रहा था। इतने में हवा का ज़ोर का झोंका आया और दीपक बुझ गया। अर्जुन उसी तरह भोजन करता रहा। भोजन करने में अंधेरे के कारण उसे कुछ भी कठिनाई नहीं हुई। उसने सोचा, 'अंधेरे में भी हाथ का ग्रास सीधा मुँह में ही जाता है, नाक में नहीं जाता। इसका क्या कारण है ?' यह सोचते-सोचते यह बात उसकी समझ में आ गई कि हाथ के मुँह में भोजन पहुँचाने के वर्षों के अभ्यास के कारण ही ऐसा होता है। इससे उसने यह परिणाम निकाला कि अभ्यास से वे कार्य भी हो सकते हैं, जिनका होना असंभव प्रतीत होता है।

फिर क्या था ! अर्जुन रात के अंधेरे में भी बाण चलाने का अभ्यास करने लगा।

एक रात को जब अर्जुन बाण चलाने का अभ्यास कर रहा था तो आचार्य द्रोण को प्रत्यंचा की टंकार सुनाई पड़ी। वे उठकर बाहर देखने गए तो अर्जुन को अभ्यास करते देखकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अर्जुन की पीठ थपथपाते हुए कहा, "मैं तुम्हें धनुष-बाण चलाने के ऐसे-ऐसे गुर बताऊँगा कि दूसरा कोई भी तुम्हारी बराबरी नहीं कर सके।"

उस दिन से द्रोणाचार्य अर्जुन को सिखाने में अधिक प्रयत्न करने लगे।

उन्होंने सब शिष्यों को एक साथ कई-कई शस्त्रों को चलाने और अकेले ही कई-कई शत्रुओं से लड़ने की शिक्षा दी।

मन की एकाग्रता, सच्ची लगन, उत्साह और अभ्यास के कारण अर्जुन ने अस्त्र-शस्त्र-विद्या सीखने में सबसे अधिक उन्नति की। वह गुरु द्रोणाचार्य का

आदर-मान भी खूब करता था। गुरु द्रोणाचार्य भी उसे बहुत चाहते थे। आचार्य द्रोण तो सभी को एक-जैसी ही शिक्षा देते थे पर अर्जुन फिर भी सबसे आगे बढ़ गया।

अर्जुन की इस उन्नति से कौरवों को जलन होने लगी। वे गदा-युद्ध में भीम के दुर्योधन से भी आगे बढ़ जाने के कारण जल-भुन गए।

अस्त्र-शस्त्र-विद्या की शिक्षा पूरी हुई। गुरु द्रोणाचार्य ने निश्चय किया कि

सबकी परीक्षा ली जाए। परीक्षा का दिन, समय और स्थान निश्चित हो गया।

परीक्षा के लिए आचार्य द्रोण ने गीध पक्षी की एक मूर्ति बनवाई और एक ऊँचे वृक्ष की शाखा पर इस ढंग से रखवा दी जैसे सचमुच कोई गीध बैठा हो। उन्होंने गीध के नकली होने की बात किसी को नहीं बताई।

फिर सब शिष्यों को आज्ञा दी कि अपने-अपने धनुष-बाण लेकर पंक्ति में खड़े हो जाओ।

उन्होंने शिष्यों को समझाया कि मैं बारी-बारी सबको इस गीध का सिर बींधने की आज्ञा दूंगा। पर जब तक बाण चलाने को न कहूं कोई बाण न चलाए।

सब अपने-अपने धनुष-बाण लेकर पंक्ति में खड़े हो गए और गुरुजी की आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगे।

सबसे पहले युधिष्ठिर की बारी आई। युधिष्ठिर पंक्ति से कुछ पग आगे बढ़ गए और पहले से निश्चित स्थान पर जा खड़े हुए।

द्रोणाचार्य ने आज्ञा दी, "युधिष्ठिर! निशाना साधो पर जब तक मैं न कहूं, बाण मत छोड़ना।"

"जो आज्ञा," कहकर युधिष्ठिर निशाना साधकर खड़े हो गए। जब युधिष्ठिर को निशाना साधे खड़े कुछ क्षण हो गए तो आचार्य द्रोण ने पूछा, "युधिष्ठिर! वृक्ष की डाल पर बैठे हुए इस गीध को देखो।"

युधिष्ठिर ने बिना हिले-डुले उत्तर दिया, "गुरुदेव, मैं गीध को देख रहा हूं।"

आचार्य द्रोण कुछ देर चुप खड़े रहे। फिर बोले, "क्या तुम इस वृक्ष को, मुझे तथा अपने भाइयों को भी देखते हो?"

"हां, गुरुदेव! मैं वृक्ष को, आपको तथा भाइयों को भी देख रहा हूं।" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया।

युधिष्ठिर का यह उत्तर सुनकर आचार्य द्रोण क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने उसे

झिड़कते हुए कहा, "हट जाओ यहाँ से ! पीछे चले जाओ ! इस पक्षी को बींधना तुम्हारे वश का नहीं है।"

मुँह लटकाए लज्जित-सा युधिष्ठिर पंक्ति में पीछे आ खड़ा हुआ। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि मुझसे क्या भूल हो गई है। सभी शिष्य सहमे-से गुमसुम खड़े थे।

इसके बाद दुर्योधन की बारी आयी। उससे भी वही कुछ पूछा जो युधिष्ठिर से पूछा था। उसने भी वही उत्तर दिया जो युधिष्ठिर ने दिया था। वह भी बिना बाण चलाए पीछे हटा दिया गया। फिर तो दुःशासन, भीम आदि कौरवों-पाण्डवों और दूसरे राजकुमारों की परीक्षा हुई। सभी ने युधिष्ठिर जैसा ही उत्तर दिया। सभी बिना बाण चलाए पीछे बुला लिए गए।

अब अर्जुन की बारी आई। अर्जुन पंक्ति से आगे बढ़ा, पूर्व-निश्चित स्थान पर पहुंचा। गुरुजी ने निशाना साधने को कहा। उन्होंने बताया कि जब मैं कहूं तभी बाण छोड़ना। गुरुजी से आज्ञा मिलते ही अर्जुन ने धनुष की डोर को इतनी जोर से खींचा कि वह गोल दिखाई देने लगा। निशाना साधकर अर्जुन निश्चल खड़ा हो गया।

कुछ समय बीतने पर द्रोणाचार्य ने पूछा, "गीध को देख रहे हो ?"

"हां, गुरुदेव, देख रहा हूं।" अर्जुन ने उत्तर दिया। द्रोणाचार्य ने दूसरा प्रश्न किया, "वृक्ष को, मुझे और अपने भाइयों को भी देख रहे हो ?"

"मैं केवल गीध को देख रहा हूं। न वृक्ष को, न आपको और न भाइयों को।" अर्जुन बोला।

द्रोणाचार्य फिर चुप्पी साध गए। वैसे उनकी प्रसन्नता उनके चेहरे पर स्पष्ट दिखाई दे रही थी। थोड़ी देर बाद उन्होंने फिर पूछा, "यदि तुम गीध को देख रहे हो तो बताओ वह किस रंग का है ? उसके अंग कैसे हैं ?"

अर्जुन ने नम्रता से उत्तर किया, "मैं तो केवल गीध का सिर देख रहा हूं, उसके अंगों को नहीं।"

द्रोणाचार्य उत्तर सुनकर प्रसन्न हो उठे। बोले, "बाण छोड़ो।"

अर्जुन ने आज्ञा मिलते ही तुरंत बाण छोड़ दिया। गीध का नकली सिर कटकर धरती पर आ गिरा।

द्रोणाचार्य ने अर्जुन को छाती से लगा लिया और पीठ थपथपाने लगे।

लक्ष्य-वेध करने के लिए यह आवश्यक है कि हमारी दृष्टि केवल लक्ष्य पर टिकी हो, इधर-उधर नहीं। यह मन की एकाग्रता सध जाने पर ही संभव होता है।

जीवन में अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए दृष्टि की तरह ही अपनी शक्ति को भी केन्द्रित करके लक्ष्य पर टिकाना पड़ता है, दिशासूचक यंत्र की तरह। दिशासूचक यंत्र की सूई केवल उत्तर दिशा का संकेत करती है, यही उसका लक्ष्य है। अपने लक्ष्य की ऐसी सिद्धता ही सफलता देती है।

सच्चा बालचर

वार्षिक परीक्षा हो रही थी। आज गणित का प्रश्न-पत्र था। सारे छात्र एक बड़े कमरे में चुपचाप बैठे हुए थे। एक अध्यापक देख-रेख के लिए नियुक्त थे कि कोई छात्र नकल न करे।

प्रश्न-पत्र मिलते ही छात्रों ने उसे पढ़ा तो जैसे उनके ऊपर घड़ों पानी गिर पड़ा। गणित के बड़े कठिन प्रश्न पूछे गए थे। बहुत-से छात्र उन प्रश्नों को हल करने में असमर्थ थे।

दो लड़के जो बड़े शरारती और चालाक थे, और आपस में एक-दूसरे को उत्तर बता देते थे, खुसर-पुसर करने लगे। बाहर उनका एक बड़ी कक्षा का मित्र खड़ा था। उन्होंने निरीक्षण करने वाले अध्यापक की नज़र बचाकर प्रश्न-पत्र उसके पास फेंक दिया।

वह तो पहले से ही तैयार था। उसने कागज़ की वह गोली-सी उठाई और खिसक गया। पाठशाला की छत पर जाकर उसने वे सारे प्रश्न हल किये। इसमें

उसे कुछ समय लग गया। फिर वह नीचे उतर आया और खिड़की के सामने खड़े होकर उन मित्रों को आँखों से संकेत कर दिया कि 'मैं प्रश्न हल करके ले आया हूँ।'

उनमें से एक छात्र पेशाब करने के बहाने बाहर गया और प्रश्न-पत्र और प्रश्नों के हल किए हुए उत्तर अपने मित्र से ले आया।

पहले दोनों साथियों ने नकल की, फिर दूसरों को भी बताने लगे। एक छात्र आनन्दकुमार ने भी, जो बालचर संस्था का सदस्य था, अनुत्तीर्ण होने के डर से नकल कर ली।

प्रश्न-पत्र देने का समय हो गया। अपने-अपने प्रश्न-पत्र देकर सब बाहर निकल आए। बाहर आकर प्रश्न-पत्र कठिन होने की चर्चा करने लगे। कुछ दूसरे छात्रों से अपने उत्तर मिलाने लगे। जो छात्र बहुत से प्रश्न बिना किए आ गए थे, वे उदास थे। उन्हें अपने अनुत्तीर्ण हो जाने का डर लग रहा था। पर जिन्होंने

बाहर से हल होकर आए उत्तरों की नकल की थी, वे प्रसन्न थे। उन्हें पता था कि उनके सारे उत्तर ठीक हैं और गणित के इस प्रश्न-पत्र में उन्हें पूरे अंक मिलेंगे।

आनन्दकुमार घर पहुँचा तो उसके पिताजी ने पूछा, "गणित का प्रश्न-पत्र कैसा हुआ ?"

उसने कुछ मरी-सी आवाज़ में उत्तर दिया कि ठीक हो गया है।

उसके पिताजी ने पूछा, "तुम उदास क्यों हो ? क्या बात है ?"

आनन्दकुमार ने कहा, "सिर में हल्का-सा दर्द हो रहा है।"

वह अगले दिन के लिए तैयारी करता रहा। शाम को भोजन करने के बाद भी वह कुछ देर पढ़ता रहा।

सोने का समय हुआ। आनन्दकुमार प्रतिदिन सोने से पहले 'बालचर के नियम' पढ़ता था। आज भी पढ़ने लगा।

एक...दो...तीन...चार...एक-एक करके नियमों को पढ़ता गया। अब दसवें नियम की बारी आयी। उसने पढ़ा : 'बालचर मन, वचन और कर्म से शुद्ध होता है।'

फिर आज दिन भर के कामों के बारे में सोचने लगा कि उसने किसी नियम का उल्लंघन तो नहीं किया। तभी उसे परीक्षा में नकल करने का ध्यान हो आया।

वह न मन से शुद्ध था, न वचन से और न कर्म से। उसने बालचर के नियमों का पालन करने की जो प्रतिज्ञा की हुई थी, वह आज उसने तोड़ दी थी।

'पर...अब क्या किया जाए ? अब क्या हो सकता है ?' वह सोचने लगा। उसे नींद नहीं आ रही थी। उसने भारी भूल की थी। इस भूल को कैसे ठीक किया जाए, यही उसकी चिन्ता का कारण था।

इसी चिन्ता में रात के बारह बज गए। कोई उपाय सूझ नहीं रहा था। उसका मन भारी हो रहा था। नींद नहीं आ रही थी।

अन्त में उसे एक उपाय सूझ ही गया। अब उसके मन की अशान्ति दूर

हो गई। उसे नींद भी आ गई।

दूसरे दिन वह कुछ पहले ही पाठशाला जा पहुँचा। वह सीधा प्रधानाचार्य के कमरे में गया और प्रणाम करके उनके सामने खड़ा हो गया।

प्रधानाचार्य ने पूछा, "क्या बात है ?"

आनन्दकुमार ने नकल करने की सारी बात सच-सच बता दी। अपने अपराध की बात बतलाकर उसने उचित दण्ड मांगा।

प्रधानाचार्य बोले, "अपराध करने के बाद तुम्हें जो पछतावा हुआ, वही इसका दण्ड है। मुझे प्रसन्नता है कि भूल करने के बाद तुमने उसे छिपाने का प्रयत्न न करके, उसे स्वीकार कर लिया। अच्छे छात्र ऐसा ही करते हैं। फिर तुम तो बालचर भी हो। तुम्हारी सचाई पर मैं बहुत प्रसन्न हूं। तुम्हारा कल वाला गणित का प्रश्न-पत्र रद्द कर दिया जाएगा। वह कुछ कठिन भी था। सारी कक्षा की दोबारा परीक्षा होगी और कड़ी निगरानी रखी जाएगी जिससे कोई नकल न कर सके।"

विष्णु शर्मा के तीन शिष्य

भारत के दक्षिण प्रदेश में महिलारोप्य नाम का एक नगर था। यह अमर-शक्ति नामक राजा की राजधानी थी। राजा अमरशक्ति बड़ा दानशील था। उसके द्वार से कोई भी मांगने वाला खाली हाथ नहीं लौटता था। वह कुशल राजनीतिज्ञ था और विद्वता के लिए भी प्रसिद्ध था। वह विद्वानों का बड़ा सम्मान करता था। उसकी सभा में पांच सौ पंडित थे। वे सभी एक-से-एक विद्वान और विशेषज्ञ थे। इनमें से कोई व्याकरण का विद्वान् था तो कोई ज्योतिष का। कोई साहित्य का तो कोई राजनीति का। कोई अर्थशास्त्र का तो कोई दण्डशास्त्र का। कोई शस्त्रास्त्रों का जानकार था तो कोई आयुर्वेद का। ये पंडित विभिन्न विषयों पर राजसभा में विचार-विमर्श करते थे। राजा सभी विद्वानों का यथोचित सम्मान करता और उन्हें मासिक वृत्ति देता था। प्रजा सुखी थी। राज्य की सीमाओं की रक्षा की कड़ी व्यवस्था थी। राज्य की धरती बड़ी उपजाऊ थी। फिर भी राजा सदा उदास रहता। कोई चिन्ता उसे भीतर ही भीतर खाए जा रही थी।

बात यह थी कि राजा के तीन पुत्र थे—बहुशक्ति, उग्रशक्ति और अनन्त-शक्ति। ये तीनों ही मूर्ख थे। राजा की चिन्ता का यही कारण था।

राजा अमरशक्ति सोचता कि मेरे बाद इस राज्य का क्या होगा? प्रजा की रक्षा, न्याय और उन्नति कैसे होगी? ये मूर्ख अनपढ़ तो आपस में भी लड़ेंगे और प्रजा को भी दुःख देंगे। इस दुर्बलता का लाभ उठाकर कोई शत्रु राज्य पर आक्रमण कर बैठेगा। अनुशासन के अभाव में शत्रु को कौन बाहर खदेड़ेगा?

ये तीनों उद्दण्ड राजकुमार नित नई शरारतें करते। कभी आपस में झगड़ पड़ते और कभी मंत्रियों के पुत्रों से। आज इस पर हाथ उठाते तो कल किसी दूसरे पर हथियार चलाते। राजा-रानी ने उन्हें बहुतेरा समझाया पर सब व्यर्थ। ज्यों-ज्यों वे बड़े होते जाते थे उनकी शैतानियां भी बढ़ती जाती थीं।

अन्त में राजा ने मंत्रिमण्डल की सभा की। उसने मंत्रियों से कहा, "आप सब जानते ही हैं कि तीनों राजकुमार पढ़ने-लिखने का नाम तो लेते ही नहीं, साधारण समझ-बूझ से भी खाली हैं। इस कारण यह इतना बड़ा राज्य भी मुझे सुख नहीं देता। मैं तो दिन-रात इस कारण ही चिन्ता में डूबा रहता हूं। आप सब जानते ही हैं, कि किसी के कोई पुत्र न हो तो उसे अधिक दुःख नहीं होता। पुत्र होकर मर जाए तो भी कुछ दिन ही दुःख होता है किन्तु मूर्ख पुत्र तो जब तक जीता है तब तक दुःख ही देता है। जैसे दूध न देने वाली गाय किसी काम की नहीं होती, वैसे ही जो पुत्र विद्वान् या शूरवीर न हो वह भी बेकार ही है। मैं तो इनके कारण लाज से मरा जाता हूं। मेरे वंश में ये कुल-कलंक पता नहीं मेरे किस पाप के कारण पैदा हुए हैं। कई उपाय करके देख लिए पर कुछ लाभ नहीं हुआ। कितने ही पंडितों ने इन्हें पढ़ाने का यत्न किया पर सब हार मान गए। अब आप सब कोई ऐसा उपाय सुझाइये जिससे मेरी चिन्ता दूर हो सके। हमारी सभा में पांच सौ वेतनभोगी पंडित हैं और एक से एक बढ़कर विद्वान् हैं। क्या उनमें से कोई भी ऐसा नहीं है जो इन्हें पढ़ा-लिखाकर राज-काज संभालने के योग्य बना दे?"

एक मंत्री बोला, "महाराज ! बारह वर्ष तो भाषा को सीखने और उस पर अधिकार प्राप्त करने में लग जाते हैं। फिर न्यायशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र पढ़ने में अलग समय लगता है। तब कहीं मनुष्य विद्वान् बनता है।"

दूसरा मंत्री बोला, "कौन कितने वर्ष जियेगा, इस बारे में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। शास्त्र तो इतने हैं कि कोई सौ वर्ष तक पढ़ता रहे, तब भी पूरे न हों। ज्ञान का कोई अन्त थोड़े ही है। राजकुमारों के लिए बीसियों सालों की लम्बी पढ़ाई की योजना बनाना ठीक नहीं होगा। इनकी उम्र भी बढ़ चली है। इन्हें तो ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए जिसमें लम्बा समय न लगे। ये राज-काज संभालने के योग्य-भर हो जाएं। राजनीति को समझने लगें। बस, इतने से काम चल जाएगा। राजकुमारों के जानने योग्य मुख्य विषय तो राजनीति ही है। इसलिए हमें कोई ऐसा ही उपाय सोचना चाहिए जिससे पढ़ने में इनका मन भी लगे और शिक्षा भी मिले। इधर-उधर की बहुत-सी बातें सिखाने में समय न गंवाकर इन्हें तो मुख्य-मुख्य बातों का ज्ञान करवा देना चाहिए। फोक को छोड़कर सार को ग्रहण करना ही इस समय समयानुकूल है।

"हमारे नगर में विष्णु शर्मा नाम के एक बड़े विद्वान् ब्राह्मण हैं। उनके पास सैकड़ों शिष्य विद्या पढ़ते हैं। छात्रों में उनकी पढ़ाई की बड़ी धाक है। कहते हैं कि वह कठिन से कठिन बात को भी इस तरह रोचक और सरल-सुबोध बनाकर समझाते हैं कि सबकी समझ में आ जाती है। मेरे विचार में तीनों राजकुमारों को उनके गुरुकुल में भेज देना चाहिए। वे इन्हें शीघ्र ही राज-काज संभालने के योग्य शिक्षा दे देंगे।"

दूसरे दिन राजा अमरशक्ति ने विष्णु शर्मा को बुला भेजा। विष्णु शर्मा के आने पर राजा ने कहा, "पंडितजी, मैंने आपको यहां आने का कष्ट दिया, इसके लिए क्षमा चाहता हूं। मैं एक समस्या के कारण बहुत चिन्तित हूं। मुझ पर कृपा करके मेरी समस्या सुलझाइये और चिन्ता दूर कीजिए।

मेरे तीनों राजकुमार एकदम उजड्ड और मूर्ख हैं। पढ़ने-लिखने के नाम से भागते हैं। किसी तरह इन्हें इतनी शिक्षा दे दीजिए कि ये राज-काज संभालने योग्य हो जाएं। यदि आप इन्हें योग्य बना देंगे तो मैं सौ गांवों का पट्टा आपके नाम लिख दूंगा। आप ही उनके स्वामी होंगे।"

विष्णु शर्मा ने कहा, "राजन्! मैं सच कहता हूं कि मैं विद्या का व्यापार नहीं करता जो सौ गांव लेकर इन्हें पढ़ाऊं। मैं लालची नहीं हूं और न ही मुझे किसी चीज की कमी है। अस्सी वर्ष की मेरी उम्र हो गई है। पता नहीं कब चल बसूँ। मुझे धन-सम्पत्ति लेकर क्या करना है। फिर भी मैं आपको वचन देता हूं कि छः महीने के अन्दर-अन्दर इन्हें राजनीति सिखा दूंगा। मैं आपसे यह बात यों ही नहीं कह रहा हूं। इसके पीछे पढ़ाने का मेरा अनुभव है। यदि मेरी बात झूठी हुई तो मेरा नाम बदल दें। मैं तो आपके कहने से विद्या-दान करूंगा। आज के दिन को लिख लीजिए और फिर ठीक छः मास बाद देख लीजिएगा कि मैंने अपनी बात पूरी कर दिखाई या नहीं।"

राजा ने ब्राह्मण की प्रतिज्ञा सुनी। उसे विश्वास नहीं हुआ कि यह प्रतिज्ञा पूरी हो सकेगी। वह समझता था कि इन जड़बुद्धि राजकुमारों को छः महीनों में तो क्या छः वर्षों में भी कोई राजनीति का ज्ञान नहीं करा सकता। उसे आश्चर्य भी हुआ और प्रसन्नता भी। आश्चर्य इस बात से कि इस असंभव बात को कर दिखाने की प्रतिज्ञा पंडितजी ने कैसे कर डाली। और प्रसन्नता इस बात से हुई कि ब्राह्मण ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर दिखाई तो मेरी समस्या सुलझ जाएगी और चिन्ता दूर हो जायेगी।

राजा अमरशक्ति ने तीनों राजकुमार पंडित विष्णु शर्मा को सौंप दिये।

राजकुमारों को सौंपकर राजा तो निश्चिन्त हो गया किन्तु विष्णु शर्मा को अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने की चिन्ता लगी। पर इस बूढ़े ब्राह्मण ने सोच-

समझकर ही प्रतिज्ञा की थी। उसका सारा जीवन अच्छे-बुरे सभी तरह के शिष्यों को पढ़ाने में बीता था। वह जानता था कि बिगड़े और उद्दण्ड छात्रों को कैसे काबू किया और सुधारा जाता है। छात्रों का मन पढ़ाई में लगाने के लिए वह ऐसी-ऐसी रोचक और शिक्षाप्रद कहानियां सुनाता था कि छात्र बड़े चाव से उन्हें सुनते। राजकुमारों को राजनीति की शिक्षा देने के लिए भी उसने कहानियों का ही सहारा लिया।

उसने सबसे पहले ऐसी कहानियां सुनानी प्रारंभ कीं जिनके द्वारा यह शिक्षा मिलती थी कि दो मित्रों की मित्रता में आस-पास के लोग कैसे फूट डालते हैं और कैसे उन्हें आपस में लड़ा देते हैं।

ये कहानियां यद्यपि पशु-पक्षियों से सम्बन्धित हैं पर अपने उद्देश्य में पूरी तरह सफल हैं। मुख्य कहानी में से दूसरी कहानियां वैसे ही निकलती चलती हैं, जैसे बड़ी शाखा में से छोटी शाखाएं।

इन कहानियों में दोहरी शिक्षा है। एक यह कि शत्रु के मित्रों से उसकी लड़ाई कैसे करानी चाहिए और अपने मित्रों से लड़ाई करवाने की शत्रु की योजना को कैसे विफल करना चाहिए।

विष्णु शर्मा की कहानियों में ऐसा जादू था कि तीनों राजकुमार मगन होकर सुनते और जब उस दिन का पाठ समाप्त हो जाता तो कहते कि 'फिर क्या हुआ ?'

कहानी सुनने का उनका कुतूहल बढ़ता ही जाता।

मित्र-भेद के बाद मित्र-लाभ की काहनियां पंडितजी ने सुनानी प्रारंभ कीं। इनमें शिक्षा थी कि मनुष्य को बहुत से मित्र बनाने चाहिए जिससे यदि कभी विपत्ति का सामना करना पड़े तो वे सब मित्र सहायता के लिए दौड़े आएं।

इसके बाद लड़ाई की कहानियां प्रारंभ हुईं कि लड़ाई में कैसे-कैसे दाँव-पेच चलते हैं; छल से, बल से शत्रु को कैसे हराया जाता है।

इसके बाद प्राप्त की हुई जीत में भी कैसे हार बदल जाती है, प्राप्त की

हुई चीज़ कैसे छिन जाती है, यह बात कहानियों द्वारा बताई गई।

अन्त में बिना सोचे-समझे काम करने का क्या परिणाम होता है, यह कहानियों द्वारा समझाया गया।

इस तरह छः मास पूरे होने को आए। पंडितजी ने राजा के पास सूचना भिजवाई कि राजकुमारों की अपनी सभा के पंडितों से परीक्षा करवाकर देख लीजिए कि वे राजनीति के जानकार हो गए हैं या नहीं।

राजा ने देख लिया कि राजकुमार अच्छे जानकार हो गए हैं। वे उन्हें राज-महलों में ले आए। राजा-रानी की चिन्ता दूर हो गई। वे खूब प्रसन्न रहने लगे।

राजा ने पंडित विष्णु शर्मा को बहुत-कुछ देना चाहा पर उस सरस्वती के प्रिय पुत्र ब्राह्मण ने कुछ भी स्वीकार नहीं किया।

पंडित विष्णु शर्मा ने उन्हें जो कहानियाँ सुनाई थीं, वे लिख भी ली थीं। नीति-कथाओं की वह पुस्तक 'पंचतंत्र' नाम से प्रसिद्ध है। इस पुस्तक का अनुवाद संसार की सभी प्रमुख भाषाओं में हो चुका है। मूल 'पंचतंत्र' पुस्तक संस्कृत में लिखी गई थी।

० ०